सुकृतैनोभ्यां मौनमिति व्रज मत्वाहं देहमौ ! न।
ध्रुवौ धर्मावमौ न रागद्वेषौ च ममेमौ नः !।।

औ ! नः ! "अहं देहं न, मम इमौ रागद्वेषौ अमौ ध्रुवौ धर्मो न" – इति मत्वा सुकृतैनोभ्यां मौनं व्रज।

'ये रोष-रागमय भाव विकार सारे,
मेरे स्वभाव नहिं हैं '-.बुध यों विचारें ।
ये पाप पुण्य ,इनमें फिर मौन धारे,
औ देह-स्नेह तजके निज को निहारे ।।५२।।

अर्थ–हे मानव ! मैं देह–शरीर नहीं हूँ और मेरे ये रागद्वेषरूपी रोग स्थायी धर्म नहीं हैं, ऐसा मानकर पुण्यपाप से मौन को प्राप्तकर अर्थात् इनका विकल्प छोड शुद्धात्म का अनुभव कर।।५२।।

भावना चेद्धि भवतः कदा निवृत्तिरियमिति भवेद् भवतः।
निक्षिपतु मनोऽभवतः पदयोर्दूरं मनोभवतः।।

"भवतः इयं निवृत्तिः कदा भवेत्" इति हि भवतः भावना चेत्
(अ) भवतः पदयोः मनः निक्षिपतु, मनोभवतः (मनः) दूरं निक्षिपतु।

संसार के जलधि से कब तैरना हो,
ऐसी त्वदीय यदि हार्दिक भावना हो ।
आस्वाद ले जिनप-पाद -पयोज का तू,
ना नाम ले अब कभी उस 'काम'का तू ।।५३।।

अर्थ–'संसार से यह निवृत्ति कब होगी' ऐसे निश्चय से यदि तेरी भावना है तो तू अभवतः–जन्म ग्रहण न करने वाले अरहन्त के चरणों में मन लगा और काम से मन को दूर रख ।।५३।।

स ना नैति नालीकः स्वं तेनेतोऽर्थोऽतो नालीकः।
यः समाननालीकः शिवश्रियेऽप्यस्तु नालीकः?।।

स ना नालीकः, यः स्वं न एति। अतः हे न ! तेन अलीकः अर्थः इतः यः (च) समाननालीकः (वर्तते), स शिवश्रिये अपि अलीकः न अस्तु ? (अस्तु एव–इत्यर्थः)

संसार-बीच बहिरातम वो कहाता,
झूठा पदार्थ गहता, भव को बढ़ाता !
बेकार मान करता निज को भुलाता,
लक्ष्मी उसे न वरती, अति कष्ट पाता ।।५४।।

अर्थ–वह मनुष्य नालीक–मुर्ख है जो आत्मा सको नही प्राप्त होता–नहीं जानता। अतः हे जिन ! उसने अलीक–मिथ्या अर्थ को प्राप्त किया है–जान रखा है जो समाननालीक–अहंकारी एवं अज्ञानी है। ऐसा मनुष्य शिवश्री–कल्याणकारी लक्ष्मी अथवा मोक्षलक्ष्मी के लिए भी अलीक–अप्रिय क्यों न हों ? अवश्य हो।।५४।।

तेनाऽऽप्यते साऽऽशु चिदेकमूर्तिश्च गतार्थैकाऽशुचिः।
धृतदशधर्मैकशुचिर्यो निजं श्रमणः श्रयति शुचिः।।

गतार्थैकाऽशुचिः चिदेकमूर्तिः च सा आशु तेन आप्यते,
यः श्रमणः धृतदशधर्मशुचिः शुचिः निजं श्रयति।

जो पाप से रहित चेतन मूर्ति प्यारी,
हो प्राप्त शीघ्र उनको भव-दुःखहारी ।
जो भी महाश्रमण हैं निज गीत गाते,
सच्चे क्षमादि दश धर्म स्वचित्त लाते ।।५५।।

अर्थ– उस श्रमण–साधु के द्वारा वह प्रसिद्ध–ज्ञानिजन सुलभ अर्थपुरूषार्थ सम्बन्धी अपवित्रता से रहित चैतन्य की अद्वितीयमूर्ति प्राप्त की जाती है, जो दशधर्म सम्बन्धी पवित्रता को धारण करने वाला उज्ज्वलहृदय श्रमण निज आत्मा का आश्रय लेता है।।५५।।

परिणतो दृशा साकं यदि नैति विधेरुदयात् सहसाऽकम्।
कं मुक्तिरेतु साकं कश्चामितं तदाञ्जसा कम्।।

यदि ना दृशा साकं परिणतः विधेः उदयात् सहसा अकम् एति तदा सा मुक्तिः कं कं अञ्जसा एतु ? कः (च) अमितं कम् (एतु)?

सम्यक्त्व-लाभ वह है किस काम आता,
है कर्म का उदय ही यदि पाप लाता ।
तो हाय ! मुक्ति-ललना किसको वरेगी ?
वो सम्पदा अतुलनीय किसे मिलेगी ।।५६।।

अर्थ-- यदि सम्यग्दर्शन के साथ तद्रूपता को प्राप्त हुआ मनुष्य कर्म के उदय से सहसा पाप को प्राप्त होता है अर्थात् चारित्र से पतित होता है, तो रत्नत्रय की एकता से प्राप्त होने वाली मुक्ति किस आत्मा को यथार्थरूप से प्राप्त होगी ? अर्थात् किसी को नहीं। इसी प्रकार चारित्र से पतित कौन मनुष्य अनन्तसुख को प्राप्त होता है? अर्थात् कोई नहीं ।।५६।।

निजीयं ननु नरायं श्रयन्तु मुनयो जडमयं न रायम्।
चेन्न ते (किं) (वा) नरा यं वाञ्छन्ति न विज्ञा नरायम्।।

ननु मुनयः निजीयं श्रयन्तु, जडमयं रायं न। चेत् न, ते किन्नराः (वानरा) विज्ञाः नराः यं यं न वाञ्छन्ति।

लेवें निजीय विधि का मुनि वे सहारा,
संसार मूल जड वैभव को बिसारा ।
ना चाहते विबुध वे यश सम्पदा को,
हाँ,चाहते जड उसे,सहते व्यथा को ।।५७।।

अर्थ–मुनि आत्मसम्बन्धी पूज्यधन का अवलम्बन लेवें, अचेतनधन का नहीं। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो वे किन्नर हैं–खोटे मनुष्य हैं अथवा वानर हैं। ज्ञानी मनुष्य यश की इच्छा नहीं करते। ।।५७।।

अत्र सुखं न वै भवे स्वीये कथमपि कुरु रुचिं वैभवे।
माने वचसि वैभवे मा भ्रम मुधा मुने ! वै भवे।।

वै अत्र भवे सुखं न। वै मुने ! कथमपि स्वीये वैभवे ऐभवे माने वचसि
(वा) रुचिं कुरु। भवे मुधा मा भ्रम।

संसार में सुख नहीं, दुःख का न पार,
ले आत्म में रुचि भला,सुख हो अपार ।
सिद्धान्त का मनन या कर चाव से तू,
क्यों लोक में भटकता पर भाव से तू ? ।।५८।।

अर्थ–हे मुने ! निश्चय से इस संसार में सुख नहीं है । तू किसी तरह अपने मोक्षरूप भव में अथवा वैभव–भगवत्सम्बन्धी ज्ञान और सिद्धान्त में रूचिकर, व्यर्थ ही संसार में मत भटक, अथवा भव–कल्याण के विषय में भ्रम –संदेह मत कर ।।५८।।

ते यान्ति सुखं समये समावसन्ति हि सदाधिगतसम ! ये।
दुःखं हि गते समये कार्यमपि च कृतं तदसमये।।

(हे) अधिगतसम ! ये समये सदा समावसन्ति, हि, ते सुखं यान्ति।
हि समये गते दुःखम्, असमये कृतं तत् कार्यम् अपि च (दुःखम्)।

जो भी रहे समय में रत, मौन धारे,
पाते अलौकिक सही सुख शीघ्र सारे।
वो विज्ञ ना समय का, वह कष्ट पाता,
पीडार्त हो,समय है जब बीत जाता ।।५९।।

अर्थ–हे अधिगतसम ! हे श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त करने वाले श्रमण ! जो मुनि सदा समय–शुद्धात्मा में वास करते हैं–उसका ध्यान करते हैं वे निश्चय से सुख को प्राप्त होते हैं। क्योंकि समय–सिद्धान्त अथवा योग्यकाल के निकल जाने पर दुःख होता है,इसके सिवाय जो कार्य असमय–अयोग्यकाल में किया जाता है वह भी दुःख रूप होता है ।।५९।।–

स्वं सुदृशाऽमागच्छममितगुणानां सदा समागच्छ।
मा कमपि च मागच्छ वदात्रेति शीघ्रमागच्छ।

अमितगुणानां गच्छं स्वं सुदृशा अमा सदा समागच्छ। "अत्र शीघ्रम् आगच्छ, (तत्र) मा गच्छ" – इति कम् अपि मा वद।

आत्मा अनन्त-गुण-धाम, सदैव जानो,
सम्यक्त्व प्राप्त करके निज को पिछानो।
जाओ वहाँ, इधर या तुम शीघ्र आओ,
आदेश ईदृश नहीं पर को सुनाओ ।।६०।।

अर्थ–हे मुने ! अपरिमित गुणों के समूह स्वरूप स्वशुद्धात्मा को सम्यग्दर्शन के साथ प्राप्त करो। 'तुम यहाँ आओ, वहाँमत जाओ' ऐसा किसी से मत कहो। ।।६०।।

खविषयो यो नागतः समादृतश्च येन गतोऽनागतः।
सत्यं यश्च नागतः किं बिभेति यते ! स नागतः

(हे) यते ! यः आगतः गतः अनागतः खविषयः येन च न समादृतः यः (च) ना सत्यं गतः, स किं नागतः बिभेति ? (न इति)

भोगे हुए विषय को मन में न लाता ।
औ प्राप्त को पकडना न जिसे सुहाता ।
कांक्षा नहीं उस अनागत की करेगा,
वो सत्य पाकर कभी अहि से डरेगा ?।।६१।।

अर्थ–हे मुने ! जो वर्तमान में प्राप्त हैं,पहले प्राप्त थे और आगे प्राप्त होंगे--ऐसे तीन काल सम्बन्धी इन्द्रियविषय जिसके द्वारा आदर को प्राप्त नहीं हुए है। साथ ही, जो मनुष्य सत्य–यथार्थवस्तुस्वरूप को जान चुका है वह क्या नाग–सर्प से भयभीत होगा? अर्थात् नहीं।।६१।।

ते मुनिजनका नत्वा स्वरसं कलयन्ति कजनका न! त्वा।
जनाः (नराः) पयः किं न त्वाऽऽस्वाद्यंपक्वपौंडकानत्त्वा।।

हे न ! ते मुनिजनकाः कजनकाः (ये) त्वा नत्वा स्वरसं कलयन्ति। जनाः (नराः) पक्वपौंडकान् अत्त्वा आस्वाद्यं पयः किं न (कलयन्ति) ? (तु पादपूर्त्यै)

हे वीर देव ! तुमको नमते मुमुक्षु,
पीते तभी स्वरस को सब सन्त भिक्षु।
क्यों बीच में मनुज तेज कचौडि खाते ?
पश्चात् अवश्य फलतः हलुवा उडाते ।।६२।।

अर्थ– हे जिनदेव ! वे मुनिजन सुख के जनक हैं, जो आपको नमनकर आत्मरस–आत्मानुभव को प्राप्त होते हैं। पका हुआ गन्ना खाकर क्या मनुष्य मधुर दूध को ग्रहण नहीं करते?।।६२।।

जिनपदपद्मयमस्य नुमञ्चति स यश्चादरं यमस्य।
वाणीरितीयमस्य सन्मतेश्च गुरोर्जितयमस्य।।

'यः जिनपदपद्यमस्य नुम् अञ्चति –सः (च) यमस्य आदरम् अञ्चति'
इति सन्मतेः गुरोः अस्य जितयमस्य च इयं वाणी (वर्तते)।

चारित्र का नित समादर जो करेंगे,
वे ही जिनेन्द्र-पद की स्तुति को करेंगे !
ऐसा सदैव कहती प्रभु भारती है,
नौका-समान भव पार उतारती है ।।६३।।

अर्थ– जो जिनेन्द्रदेव के चरणकमलयुगल की स्तुति को प्राप्त होता है वह चारित्र के आदर को प्राप्त होता है, ऐसी महावीर तथा मृत्युजंयी गुरू की वाणी है ।।६३।।

योऽत्ति न सदाहारं रत्नत्रयं च कलयति न सदा हारम्।
गतमानसदाहाऽरं तमेतु स त्रासदं हा ! रम्।।

यः सत् आहारं न अत्ति, रत्नत्रयं हारं च सदा न कलयति,
हे गतमानसदाह ! सः(जनः) त्रासदं तं कम् अरं हा ! एतु।

आहार जो न करते समयानुसार,
औ धारते न रतनत्रय-रूप हार ।
रागाग्नि से सतत वे जलते रहेंगे,
संसार वारिधि महा फिर क्यों तिरेंगे ?।।६४।।

अर्थ--जो मनुष्य शुद्ध सात्विक आहार को ग्रहण नहीं करता और न सदा रत्नत्रयरूपी हार को धारण करता है। हे कामाग्नि सम्बन्धी मानसिक दाह से रहित मुने ! वह, खेद है दुःखदायक कामाग्नि को शीघ्र ही प्राप्त होवे ।।६४।।

सुखिनः सुखे सखे न मरुत्सखाः खेचरोऽयुतः सखेन।
नरो जिनदास ! खे न ह्यार्तस्ततः स्वे वस खे न।।

सखे, जिनदास ! मरुत्सखाः सुखे सुखिनः न, सः खेचरः खेन अयुतः,
नरः खेन आर्तः, ततः स्वे वस, खे न (वस)।

देखो सखे ! अमर लोग सुखी न सारे,
वे भी दुःखी सतत, खेचर जो बिचारे।
दुःखार्त्त हि दिख रहे नर मेदिनी में,
शुद्धात्म में रम अतः, मन रागिनी में ।।६५।।

अर्थ-- हे मित्र ! जिनदास ! इन्द्र स्वर्ग में सुखी नहीं है,वह खेचर--विद्याधर सुख से रहित है। और मनुष्य वेदना से पीड़ित है। अतः तू अपने आप में-- शुद्धात्मस्वरूप में निवास कर, इन्द्रियों में नहीं ।।६५।।

तप्त ! मनोभववसुना भव्य चिदनुभवसवेन भव वसुना।
तृप्तोऽलं भववसु ना स्यात् सुखीत्वा विद्भववसुना।।

भव्य ! मनोभववसुना तप्त ! चिदनुभव सवेन वसुना तृप्तः भव,
भववसुना अलम् ना विद्भववसु ईत्वा सुखी स्यात्।

कामाग्नि से परम तप्त हुआ सदा से,
तू आत्म को कर सुतृप्त स्व की सुधा से ।
कोई प्रयोजन नहीं जड सम्पदा से,
पा बोध , हो नर ! सुखी अति शीघ्रता से।।६६।।

अर्थ– हे ! कामाग्नि से संतप्त भव्य ! तू आत्मानुभवरूप जल से संतुष्ट हो, जा,संसार के धन से वाज आओ। क्योंकि मनुष्य आत्मोत्थधन को पाकर सुखी हो सकता है।।६६।।

जडजेन माऽक्षरेण कुरु किन्तु सम्बन्धममाऽक्षरेण।
कलयतु विना क्षरेण न दवेन कुस्तप्ताऽक्ष ! रेण।।

जडजेन अक्षरेण सम्बन्धं मा कुरु, किन्तु हे अक्ष ! अक्षरेण अमा (सम्बन्धं कुरु)। रेण दवेन तप्ता कुः क्षरेण विना न कलयतु।

सम्बन्ध द्रव्य श्रुत से नहिं मात्र रक्खो,
रक्खो स्वभाव श्रुत से,निज स्वाद चक्खो ।
है मेदिनी तप गई रवि ताप से जो,
क्यों शाँत हो जल बिना, जल नाम से वो।।६७।।

अर्थ– हे आत्मन् ! पौद्गलिक अक्षररूप द्रव्यश्रुत से सम्बन्ध मत करो, किन्तु अक्षर–ब्रम्हरूप आत्मा से सम्बन्ध करो अर्थात् भावश्रुत से सम्बन्ध जोडों क्योंकि तीक्ष्ण दावानल से संतप्तभूमि जल अथवा मेघ के बिना शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकती।

असावभावो भावः पर्यायस्य न भावस्य च भावः।
त्रैकालिकस्तु भावः परमेष्ठिमतस्येति भावः।।

असौ भावः अभावः च पर्यायस्य, भावस्य भावः न। भावः
तु त्रैकालिकः–इति परमेष्ठिमतस्य भावः।

''पर्याय वो जनमती मिटती रही है।
त्रैकालिकी यह पदार्थ, यही सही है।''
श्री वीर देव जिन की यह मान्यता है,
पूजूँ उसे विनय से यह साधुता है।।६८।।

अर्थ– यह उत्पाद और व्यय पर्याय का है, द्रव्य का नहीं। भाव–द्रव्य तो त्रैकालिक है–नित्य है, यह जैनमत का भव–आशय है।।६८।।

यत्र रागाय वीचिर्मरीचेश्चेतसि चेन्मदो-वीचिः।
तत्र न चकास्तु वीचिः किं न स दुःखपूर्णोऽवीचिः।।

यत्र मरीचेः चेतसि रागाय वीचिः च मदः वीचि (स्यातां) चेत्,
तत्र वीचिः न चकास्तु। सः किं दुःखपूर्णः अवीचिः न ? (अस्त्येव)

संमोह राग मद है यदि भासमान,
या विद्यमान मुनि के मन में ऽभिमान।
आनन्द हो न उस जीवन में कदापि,
हा ! हा ! वही नरक कुण्ड बना ऽतिपापी ।।६६।।

अर्थ–मुनि के जिस हृदय में राग के लिये अवकाश है ।तथा अल्प अथवा सन्ततिबद्ध अभिमान है, उसमें सुख सुशोभित नही हो सकता । ऐसा मुनि क्या दुःखों से भरा हुआ नरक नहीं है ? अर्थात् नरक ही है।।।६६।।

यो भुवि मुनिलिङ्गमितस्तेनाप्यत इति को जिनवागमितः।
येन मदोन्तंगमितश्चात्मा ह्यविनश्वरो गमितः।।

"यः भुवि मुनिलिङ्गम् इतः येन मदः अन्तंगमितः, अविनश्वरः आत्मा च गमितः तेन अमितः कः आप्यते" – इति जिनवाक्।

श्रद्धाभिभूत जिसने मुनि लिंग धारा,
कंदर्प को सहज से फिर मार डारा ।
अत्यन्त शान्त निजको उसने निहारा,
औ अन्त में बल ज्वलन्त अनन्त धारा।।७०।।

अर्थ–पृथिवी पर जो मुनिलिंग–निर्ग्रन्थवेष को प्राप्त हुआ है, जिसने अभिमान को नष्ट किया है और जिसने अविनाशी आत्मा को जान लिया है, उसके द्वारा अपरिमित सुख प्राप्त किया जाता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन है ।।७०।।

तदस्त्यसुमतामहित-मकं ततो दूरीभव त्वमहितः।
यो प्राणिग्रामहितः स वदतीति मुनिसमितिमहितः।।

'तत् अकम् असुमताम् अहितम् अस्ति। ततः अहितः त्वम् दूरीभव"
इति – यः मुनिसमितिमहितः प्राणिग्रामहितः–स वदति।

"रे ! पाप ही अहित है, रिपु है तुम्हारा,
काला कराल अहि है, दुःख दे अपारा ।
हो दूर शीघ्र उससे, तब शान्ति धारा,"
ऐसा कहें जिनप जो जग का सहारा ।।७१।।

अर्थ – 'वह पाप प्राणियों का अहितकारी–शत्रु है–सर्परूप उस पाप से तू दूर रह' ऐसा मुनियों के समूह से पूजित और प्राणिसमूह के लिये हितकारी जिनेन्द्र कहते हैं।।७१।।

स मुदमेति वासन्तः समुत्सवो वने यदा वासन्तः।
नेत्वा निजवासवन्त आशु शं शिष्या वा सन्तः।।

यदा वासन्तः समुत्सवः वने एति (तदा) स वासन्तः मुदम् एति। हे न ! ते शिष्याः सन्तः वा निजवासं शम् ईत्वा आशु (मुदं यन्ति)।

ले रम्य दृश्य ऋतुराज वसन्त आता,
ज्यों देख कोकिल उसे मन मोद पाता।
हे वीर ! त्यों तव सुशिष्य खुशी मनाता,
शुद्धात्म को निरख औ' दुःख भूल जाता।।७२।।

अर्थ--जब वन में वसन्त का उत्सव आता है, तब कोयल हर्ष को प्राप्त होती है। इसी तरह हे जिन ! आपके शिष्य और सत्पुरुष आत्मस्थ--आत्मसम्बन्धी सुख को प्राप्त कर मोद को प्राप्त होते हैं।।।७२।।

कुधीः सुखी नाके न ततो युतो भव केन नो नाऽकेन।
दुःखिनो विना के न दृशा किं नरकेण नाकेन।।

हे नः ! नाके कुधीः सुखी न, ततः केन युतः भव, अकेन युतः न भव। (अतः) नरकेण (च) नाकेन च किम् ? दृशा विना के (जनाः) दुःखिनः न ?।

होता कुधी, वह सुखी दिवि में नहीं है,
तू आत्म में रह, अतः सुख तो वही है।
क्या नाक से, नरक से ? इक सार माया,
सम्यक्व के बिन सदा ! दुःख ही उठाया।।७३।।

अर्थ--हे मनुज ! स्वर्ग में अज्ञानी--मिथ्यादृष्टि जीव सुखी नहीं है। अतः तू क--आत्मा से युक्त हो, अक--पाप से युक्त मत हो। इसलिये नरक और स्वर्ग से क्या ? सम्यग्दर्शन के बिना कौन मनुष्य दुःखी नहीं है ? ।।७३।।

प्रतापी ह्यपि रोहितः पवनपथि यथा पयोदतिरोहितः।
आत्माप्याह रोहितः कर्मरजसेति नृवरो हितः।

पवनपथि प्रतापी अपि रोहितः यथा पयोदतिरोहितः (भवति) (तथैव) रोहितः आत्मा अपि कर्मरजसा (तिरोहितः भवति) इति नृवरः हितः आह।

ज्योत्स्ना लिये, तपन यद्यपि है प्रतापी,
छा जाय बादल, तिरोहित हो तथापि।
आत्मा अनन्त द्युति लेकर जी रहा है,
हो कर्म से अवश, कुन्दित हो रहा है ।।७४।।

अर्थ–जिस प्रकार आकाश में प्रतापी होने पर भी सूर्य मेघों से छिप जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी कर्मरूपी सूर्यरूपी धूलि से तिरोहित हो रहा है – छिप रहा है, ऐसा कल्याणकारी नरोत्तम – जिनदेव ने कहा है। ।।७४।।

नो सुखं सदाशातो जन्माप्राक्तो रवेः कदाऽऽशातः?
तथापि निजदाशातो दूरोऽतो ऽज्ञः सदा शातः?

अशातः सत् सुखं न। अप्राक्तः आशातः रवः जन्म कदा (भवति)?
तथापि निजदाशातः अज्ञः सदा दूरः (वसति), अतः शातः (भवति)।

कैसे मिले ? नहिं मिले सुख माँगने से,
कैसे उगे अरुण पश्चिम की दिशा से ?
तो भी सुदूर वह मूढ़ निजी दशा से,
होता अशान्त अति पीड़ित ही तृषा से ।।७५।।

अर्थ–आशा – तृष्णा से समीचीन सुख नहीं होता। पूर्वेतर – पश्चिमादि दिशा से सूर्य का उदय कब होता है? फिर भी अज्ञानी मनुष्य निज दशा से दूर रहता है इसीलिये वह सदा अशांत – सुखरहित अर्थात् दुःखी रहता है। ।।७५।।

स्वे वस मुदाऽमा यते ! निजानुभवं कुरु चिन्तां माऽऽयतेः।
नास्तु हीहामाय ते श्रयमुरसि भयमेहि माऽऽयतेः।।

यते ! मुदा अमा स्वे वस। निजानुभवं कुरु; आयतेः चिन्तां मा(कुरु)।
आयतेः भयं मा एहि। हि ते उरसि ईहामाय श्रयं न अस्तु।

लिप्सा कभी विषय की मन में न लाओ,
चारित्र धारण करो, पर में न जाओ।
चिन्ता कदापि न अनागत की करोगे,
विश्राम स्वीय घर में चिरकाल लोगे ।।७६।।

अर्थ–हे श्रमण ! हर्ष के साथ अपने आत्मस्वरूप में निवास करो। निज का अनुभव करो। भविष्य की चिन्ता मत करो। मृत्यु के भय को प्राप्त मत होओ – मृत्यु से डरो नहीं और तुम्हारे हृदय में इच्छारूपी रोग के लिए स्थान नहीं हो ।।७६।।

क्षारतः संसारतः पारावारतो दुःखमसारतः।
निजे भवाञ्जसारतः सुखं सत् स्यात् स्वतः सारतः।।

असारतः क्षारतः पारावारतः संसारतः दुखं (हि प्राप्यते)।
अतः निजे अञ्जसा रतः भव। स्वतः सारतः सत् सुखं स्यात्।

संसार सागर असार अपार खारा,
है दुःख ही, सुख जहां न मिले लगारा।
तो आत्म में रत रहो, सुख चाहते जो,
है सौख्य तो सहज में, नहिं जानते हो ? ।।७७।।

अर्थ–सारहीन, खारे, सागरस्वरूप संसार से दुःख ही प्राप्त होता है। इसलिये निजस्वरूप में यथार्थतः लीन हो, सारभूत निज से सच्चा सुख होता है ।।७७।।

न हि कैवल्यसाधनं केवलं यथाजात - प्रसाधनम्।
चेन्न, पशुरपि साधनं व्रजेदव्ययमञ्जसा धनम्।।

केवलं यथाजात–प्रसाधानं न हि (इत्थम्) चेत् न,
(तर्हि) पशुः अपि अञ्जसा अव्ययं साधनं धनं व्रजेत्।

'कैवल्य-साधन न केवल नग्न-भेष,''
त्रैलोक्य वन्द्य इस भांति कहें जिनेश।
इत्थम् न हो, पशु दिगम्बर क्या न होते?
होते सुखी ? दुखित क्यों दिन रात रोते?।।७८।।

अर्थ–मात्र नग्नवेष ही मोक्ष का उपाय नहीं है। यदि ऐसा न हो, पशु भी यथार्थ में अविनश्वर गति–मोक्षरूपी धन को प्राप्त हों।

स्वीयतो भुवि भावतः शिवं भवेद् भववृद्धिर्विभावतः।
विरतो भव विभावत इति वाग्घि विवेकविभावतः।।

''स्वीयतः भावतः भुवि शिवं भवेत्, भववृद्धिः विभावतः (भवेत्)
अतः विभौ विरतः भव'' इति हि विवेकविभावतः वाग्।

''संसार की सतत वृद्धि विभाव से है,
तो मोक्ष सम्भव स्वतन्त्र स्वभाव से है।
हो जा अतः अभय, हो विभु में विलीन,''
हैं केवली-वचन ये - ''बन जा प्रवीण''।।७९।।

अर्थ - 'स्वकीय स्वभाव से पृथिवी पर शिव – कल्याण अथवा मोक्ष होता है और विभाव–रागादि परिणाम से संसार की वृद्धि होती है। अतः हे श्रमण ! तू वीतराग सर्वज्ञ प्रभु में विलीन हो जा ऐसी विवेकविभावान्–केवलज्ञान की प्रभा से युक्त जिनेन्द्र की वाणी है।।७९।।

स्वे वस मुदा
नास्तु हीः

यते ! मुद
आयत

लिप्सा कभी
चारित्र
चिन्ता कदाप
विश्राम

अर्थ--हे श्रमण ! ह
करो। भविष्य की
नहीं और तुम्हारे

चरणमुकुटःशिरसि त आभवतो न सुदृगसितमणिरि
धृतोऽतो यो न रसित - गोचरः कोऽसौ शुचिरसि

आभवतः ते शिरसि सुदृगसितः--मणिरसितः चरणमुकुटः न धृतः।
अतः यः रसितगोचरः न, असौ शुचिः कः असितः?

सम्यक्त्व नीलम गया जिसमें जड़ाया,
चारित्र का मुकुट ना सिर पै चढ़ाया।
तू ने तभी परम आतम को न पाया,
पाया अनन्त दुःख ही, सुख को न पाया।।८९

अर्थ--हे भगवन् ! मैंने अनादिसंसार से आज तक सम्यक्त्वरूपी नीलमणि से
आपका चारित्ररूपी मुकुट अपने मस्ताष्क पर नहीं चढ़ाया, इसीलिये जो शब्द का
नहीं वह निर्मल आत्मा मेरे लिये अज्ञात रही।।८०।।

यस्त्रियोगैरञ्जनं रागमयं विहाय जगद्-रञ्जनम्।
भजति जिनं निरञ्जनं तमेति मुक्तिःसाऽरं जनम्।।

यः त्रियोगैः रागमयम् अंञ्जनं विहाय, जगद्ञ्जनं निरञ्जनं जिनं भजति,
तं जनं सा मुक्तिः अरम् एति।

जो काय से वचन से मन से सुचारे,
पा बोध, राग मल धोकर शीघ्र डारे।
ध्याता निरन्तर निरंजन जैन को है,
पाता वही नियम से सुख चैन को है।।८१।।

अर्थ--जो मन--वचन--काय से रागरूप काजल को छोड़कर जगत् को आनन्द देने
वाले, कर्मकालिमा से रहित जिनेन्द्र की सेवा करता है, उस पुरुष को वह मोक्षलक्ष्मी
शीघ्र ही प्राप्त होती है।।८१।।

त्यजेत्वा सङ्गमेन आश्वलमनेन च दुःसङ्गमेन।
भज नमसङ्गमेनमनात्मनि विश्वासं गमे न।।

सङ्ग एनः ईत्वा आशु त्यज। अनेन दुस्सङ्गमेन च अलम्।
असङ्गम् एनं नं भज। अनात्मनि गमे विश्वासं न (कुरु)।

दुस्संग से प्रथम जीवन शीघ्र मोड़ो,
तो संग को समझ पाप तथैव छोड़ो।
विश्वास भी कुपथ में न कदापि लाओ,
शुद्धात्म को विनय से तुम शीघ्र पाओ।।८२।।

अर्थ–परिग्रह को पाप जानकर शीघ्र छोड़ो। इस परिग्रह और कुसंगति से बाज आओ, दूर रहो। इन निर्ग्रन्थ जिनेन्द्र की सेवा करो, पर पथ में विश्वास मत करो।।८२।।

तथा जितेन्द्रियोऽङ्गतो निस्पृहोऽभवं योगी च योगतः।
पक्वपर्णोपचयोऽगतो यथा पतन् मा चल योगतः।।

यः जितेन्द्रियः योगी अभवंगतः, अङ्गतः च तथा निःस्पृहः यथा
अगतः पतन् पक्वपर्णपचयः (निस्पृहो भवति) अतः योगतः मा चल।

पत्ता पका गिर गया तरु से यथा है,
योगी निरीह तन से रहता तथा है।
औ ब्रह्म को हृदय में उसने बिठाया,
तू क्यों उसे विनय से स्मृति में न लाया?।।८३।।

अर्थ–जो जितेन्द्रिय साधु अभव–संसाराभाव को प्राप्त हुआ है, वह शरीर से उस प्रकार निस्पृह रहता है, जिस प्रकार वृक्ष से पड़ता हुआ सूखे पत्तों का समूह। अतः हे योगिन्! तू (शारीरिक उत्पात आने पर) योग से विचलित न हो।।८३।।

यो धत्ते सुदृशा समं मुनिर्वाङ्मनोभ्यां च वपुषा समम्।
विपश्यति सहसा स मं ह्यनन्तविषयं न तृषा समम्।।

यः मुनिः सुदृशा वाङ्मनोभ्यां च वपुषा समं समं धत्ते,
स हि अनन्तविषयं मं सहसा समं विपश्यति, तृषा (समं) न (पश्यति)।

वाणी, शरीर, मन को जिसने सुधारा,
सानन्द सेवन करे समता-सुधारा।
धर्माभिभूत मुनि है वह भव्य जीव,
शुद्धात्म में निरत है रहता सदैव।।८४।।

अर्थ–जो मुनि सम्यग्दर्शन के साथ मन–वचन–काय से साम्यभाव को धारण करता है, निश्चय से वह अनन्तपदार्थों के ज्ञाता ब्रह्मा–आत्मा को शीघ्र ही देखने लगता है–उसका अनुभव करने लगता है, किन्तु तृष्णा के साथ नहीं।।८४।।

करणकु ञ्जरंकन्दरं स्वरससेवन - संसेवित - कन्दरम्।
त्वा स्तुवे मे ऽकं दरं कलय गुरो ! दृक्कृषिकंद ! रम्।।

(हे) गुरो ! दृक्कृषिकन्द ! स्वरससेवन – संसेवितकन्दरं
करणकुञ्जरकन्दरं त्वां स्तुवे। मे अकं दरं कलय।

जो साधु जीत इन इन्द्रिय-हाथियों को,
आत्मार्थ जा, वन बसें, तज ग्रन्थियों को।
पूजूं उन्हें सतत वे मुझको जिलावें,
पानी सदा दृगमयी कृषि को पिलावें।।८५।।

अर्थ–'हे गुरो ! हे सम्यक्त्वरूपी खेती को जल देने वाले ! जो इन्द्रियरूपी हाथियों को वश करने के लिये अंकुश हैं तथा आत्मानुभव का सेवन करने के लिये जो कन्दराओं – गुफाओं में निवास करते हैं, ऐसे आपकी मैं स्तुति करता हूँ आप मेरे तीव्र दुःख को लघु – हल्का कर दें।।८५।।

स हि मुनिर्मयाऽरमितः प्रणतिं यो क्षमारामया रमितः।
गदितमिति जिनैरमितश्चाप्यते कोऽनया नर ! मितः।।

यः क्षमारामया रमितः स हि मुनिः मया अरं प्रणतिम् इतः (हे) नर !
अनया अमितः मितः च कः आप्यते–इति जिनैः गदितम्।

मैं उत्तमङ्ग उसके पद में नमाता,
जो है क्षमा-मणि से रमता-रमाता।
देती क्षमा अमित उत्तम सम्पदा को,
भाई ! अतः तज सभी जड़-संपदा को।।८६।।

अर्थ–जो क्षमारूपी रमणी से रमा गया है–उसमें निरन्तर लीन है वह मुनि मेरे द्वारा शीघ्र ही प्रणाम को प्राप्त होता है–मैं उसे सहसा प्रणाम करता हूं। हे मानव ! 'इस क्षमा से मोक्ष का अपरिमित और स्वर्गादि का परिमित सुख प्राप्त होता है' ऐसा जिनेन्द्र भगवन्तों ने कहा है।।८६।।

ननु निश्चयो यो नयः शिवदो न वन्द्यो न न च नयोऽनयः।
नमः पयोजयोनय आशु नाश्यन्ते कुयोनयः।।

ननु यः निश्चयः नयः (सः) शिवदः न, वन्द्यः (च) न,
नयः अनयः च न। पयोजयोनये नमः (यस्मात्) कुयोनयः आशु नाश्यन्ते।

ना वन्द्य है, न नय निश्चय मोक्ष-दाता,
ना है शुभाशुभ, नहीं दुःख को मिटाता।
मैं तो नमूं इसलिए मम ब्रह्म को ही,
सद्यः टले दुःख मिले सुख और बोधि।।८७।।

अर्थ–परमार्थ से जो निश्चयनय है वह मोक्ष को देने वाला नहीं है इसलिये वन्दनीय भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय मात्र मोक्षपथ का प्रदर्शक है मोक्षप्रदायक नहीं, मोक्ष के लिये पुरुषार्थ आत्मा को ही करना होता है। निश्चयनय मोक्ष का देने वाला नहीं है तथा वन्दनीय भी नहीं है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नय व्यर्थ है। प्रारम्भिक दशा में नय अनय नहीं है कल्याणकारी विधि से रहित नहीं है, अतः सार्थक है। अथवा मैं नय और कुनय के पक्ष में न पड़कर पद्मयोनि – ब्रह्मस्वरूप आत्मा को नमस्कार करता हूँ, जिससे सब नरकादि कुयोनियाँ नष्ट होती हैं।।८७।।

तदाऽऽत्मा मेऽजायते मयि यदैव सच्चेतना जायते।
त्वमतस्तां भजाऽऽयतेर्न भयं या स्वभावजा यते !।।

यदा एव मयि सच्चेतना जायते, तदा (एव) मे आत्मा अजायते।
(हे) यते ! स्वभावजा या (सच्चेतना) तां भज ! आयतेः भयं न (भज)।

सत् चेतना हृदय में जब देख पाता,
आत्मा मदीय भगवान समान भाता।
तू भी उसे भज जरा, तज चाह-दाह,
क्यों व्यर्थ ही नित व्यथा सहता अथाह।।८८।।

अर्थ–जिस समय मुझमें सच्चेतना प्रकट होती है–मेरी ज्ञानपरिणति रागादिक विभावभावों से रहित होती है, उसी समय मेरी आत्मा अज–भगवान् जैसी हो जाती है। हे श्रमण! जो स्वाभाविक सच्चेतना है उसी की तू सेवा कर–आराधन–मनन–चिन्तन कर, भविष्यत् का भय न कर।।८८।।

निजस्य गतमदा नवः समावहन्तस्तं समं दानवः।
क एति कामदा नवस्तानाह नुतयमदानवः।।

"(ये) गतमदाः निजस्य नवः तं समं समावहन्तः दानवः, तान् कामदा नवः कः एति" – इति नुतयमदानवः आह।

"गम्भीर-धीर यति जो मद ना धरेंगे,
औ भाव-पूर्ण स्तुति भी निज की करेंगे।
वे शीघ्र मुक्ति ललना वर के रहेंगे,"
ऐसा जिनेश कहते - 'सुख को गहेंगे'।।८९।।

अर्थ–जो निरभिमान हो निज शुद्धात्मा की स्तुति करते हैं तथा उसी को सदा साथ धारण करते हैं वे वीर हैं। उन वीरों को मनोरथों का पूरक नूतन प्रकाश (केवलज्ञान) प्राप्त होता है–ऐसा सुर–असुरों से स्तुतजिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।।८९।।

शुचिर्विवेकदृशा न आत्मा दृश्यतेऽनया च दृशा न।
ना विना को दृशा न ते विदुरादर्श - सदृशा नः!।।

(हे) नः ! विवेकदृशानः शुचिः आत्मा अनया दृशा च न दृश्यते। दृशा विना कः न (आप्यते) – (एवं) ते आदर्श – सदृशाःनाःविदुः।

आत्मावलोकन कदापि न नेत्र से हो,
पूरा भरा परम पावन बोधि से जो।
आदर्श-रूप अरहन्त हमें बताते,
कोई कभी दृग बिना सुख को न पाते।।६०।।

अर्थ–हे मानव ! पूज्य निर्मल आत्मा भेदविज्ञानरूप दृष्टि से दिखाई देता है – अनुभव में आता है, इस चर्ममयी दृष्टि से नहीं। दृष्टि के बिना क–आत्मा, सूर्य, प्रकाशादि प्राप्त नहीं होते–ऐसा दर्पण के समान वे जिनराज जानते हैं।।६०।।

दृशा विना चरणस्य भारं वहता च मदं च चरणस्य।
नुमञ्चताऽऽचरणस्य नाप्तिर्नुतनृनभश्चर ! णस्य।।

(हे) नुतनृनभश्चर ! दृशा विना चरणस्य भारं, चरणस्य मदं च वहता, आचरणस्य नुम् अञ्चता णस्य आप्तिः न (भवतीति)।

जो 'वीर' के चरण में नमता रहा है,
चारित्र का वहन भी करता रहा है।
औ गोत्र का, दृग बिना, मद ढो रहा है।
विज्ञान को न गहता, जड़ सो रहा है।।६१।

अर्थ–हे ! मनुष्य एवं विद्याधरों से स्तुत जिनदेव ! जो सम्यग्दर्शन के विना चारित्र का भार ढोता है, उस चारित्र से अपने उच्चगोत्र का गर्व करता है और स्वकीय आचरण की स्तुति – प्रशंसा करता है वह मनुष्य निर्णय अथवा ज्ञान को प्राप्त नहीं होता।।६१।।

सङ्गेऽङ्गेऽसंग रतः शिवाङ्गच्युतो यौऽङ्ग ! स सङ्गरतः।
किं दूरः सङ्गरतस्त्वमतोऽकाद्विरम सङ्गरतः।।

(हे) असङ्ग ! अङ्ग ! यः शिवाङ्गच्युतः, सङ्गे, अङ्गे रतः सः किं सङ्गरतः दूरः ? अतः त्वं सङ्गरतः सङ्गरतः अकात् विरम।

धिक्कार ! मोक्ष-पथ से च्युत हो रहा है,
तू अंग-संग ममता रखता अहा है।
भाई ! अतः सह रहा नित दुःख को ही,
ले ले विराम अघ से, तज मोह मोही !।।६२।।

अर्थ–हे निर्ग्रन्थ ! जो मोक्ष के निमित्तभूत सम्यग्दर्शनादि से च्युत हो परिग्रह और शरीर की संभाल में लीन है, वह संगर – आपत्ति से दूर है क्या ? अतः तू विपत्तिरूप एवं विषरूप पाप से विरत हो।।६२।।

सतः समयसारसतः सन्त्वलयोऽदूराः सहसा रसतः।
परान्न दृक्साऽरसतः स्वतः सुधा स्रवति सारसतः।।

सतः अलयः समयसारसतः अदूराः सन्तु, रसतः (च) सहसा (दूराः) (सन्तु)। सा दृक् परात् न (लभ्यते)। अरसतः स्वतः सारसतः (सा दृक्) सृधा स्रवति।

जो सन्त हैं समय-सार सरोज का वे,
आस्वाद ले भ्रमर-से पर में न जावें।
सम्यक्त्व हो न पर से, निज आत्म से ही,
भाई ! सुधा-रस झरे शशि-बिम्ब से ही।।६३।।

अर्थ– भ्रमर (गुणग्राहीजन) समीचीन, समय–आत्मारुपी सारस कमल से अदूर रहें– निकटस्थ रहें और रस – शरीर से दूर रहें। वह सम्यग्दर्शन पर से नहीं प्राप्त होता, रस – पौद्गलिक गुण से रहित स्वतः स्वकीय आत्मा से प्राप्त होता है। जैसे कि सुधा – अमृत सारस – चन्द्रमा से झरती है, अन्य पाषाणादि से नहीं।।६३।।

पुण्यमुदयागतमदश्चाकमितरद भयं भवाद् गतमदः।
न गतोऽखिलं गतमद इति वेद्मि विदन्तर्गतमदः।।

भवात् भयंगत ! अदः उदयागतं पुण्यम् अकं च मत् इतरत्,
अखिलं गतः गतमदः अः मत् इतरं न इति विदन्तर्गतमदः (अहं) वेद्मि।

आया हुआ उदय में यह पुण्य पिण्ड,
औ' पाप, भिन्न मुझको जड़ का करण्ड।
ब्रह्मा न किन्तु पर है वह वर-बोध भानु,
मैं सर्व-गर्व तज के इस भाँति जानूँ।।६४।।

अर्थ–हे संसार से भयभीत ! श्रमण ! उदय में आया हुआ वह पुण्य और पाप मुझसे भिन्न है।सर्वत्र व्यापक (सबको जानने वाला) एवं गतमद–गर्वरहित अ–परमेश्वर मुझसे भिन्न नही है। जिसका गर्व या हर्ष ज्ञान में विलीन हो गया है,ऐसा मैं जानता हूँ।।६४।।

यते सन्मतेऽमल ! य ऋषयस्तत्पद्पमयुग्ममलयः।
भजन्ति गतो यो मलयः समदृष्टिं कृतमदाऽमलयः।।

यते ! सन्मते ! अमल ! कृतमदाऽमलयःयःमलयः समदृष्टिं गतः,
तत् पदपद्मयुग्मं ये ऋषयः अलयः भजन्ति।

साधु सुधार समता, ममता निवार,
जो है सदैव शिव में करता बिहार।
तो अन्य साधु तक भी उसके पदों में,
होते सुलीन अलि-से, फिर क्या पदों में?।।।६५।।

अर्थ–हे यते ! हे सन्मते ! हे अमल ! जिसने मद–गर्वरूपी रोग का नाश कर दिया है,जो विश्वरुप आत्मा में लीन है एवं समदृष्टि को प्राप्त है, उसके चरणकमलयुगल को ऋषिरूपी भ्रमर भजते हैं–नमन करते हैं ।।६५।।

चाप्ता ह्यसावसुरताऽसति तपसि रतैस्तपस्विभिः सुरता।
संस्तुत-नृसुरासुर ! ताः श्रियस्तु न स्वजा भासुरताः।।

हि असौ असुरता सुरता च असति तपसि रतैः तपस्विभिःआप्ता ।
(हे) संस्तुतनृसुरासुर ! ताःस्वजाःभासुरताः श्रियःतु न (प्राप्ता)।

प्रायः सभी कुतप से सुर भी हुए हैं,
लाखों दफा असुर हो, मर भी चुके हैं।
दैदीप्यमान नहिं 'केवलज्ञान' पाया,
हे वीर देव। हमने दुःख ही उठाया।।६६।।

अर्थ–निश्चय से यह असुरों और सुरों की पयार्य कुतप में लीन तपस्वियों के द्वारा प्राप्त की है परन्तु हे नर और देवदानवों से संस्तुत भगवन् ! वे आत्मोत्थ एवं देदीप्यमान केवलज्ञानादि लक्ष्मियाँ उनके द्वारा प्राप्त नहीं की गई।।६६।।

किं जितानङ्ग ! ते न ! मते मतं मतं वितानं गतेन।
श्रीरिता नं गतेन नेति कमभजताऽनङ्ग ! तेन।।

जितानङ्ग ! अनङ्ग ! न ! नं गतेन तेन कम् अभजता
श्रीः न इता मतं वितानं गते ते मते किम् इति न मतम् ?

''सानन्द यद्यपि सदा जिन नाम लेते,
योगी तथापि न निजातम देख लेते।
तो वे उन्हें शिवरमा मिलती नहीं है,''
तेरा जिनेश ! मत ईदृश क्या नहीं है ? ।।६७।।

अर्थ– हे मदनविजयी ! हे अशरीर ! (शरीर सम्बन्धी राग से रहित) हे जिन ! जिनदेव को प्राप्त होकर भी जो आत्मा की आराधना नहीं करता है–आत्मा के ज्ञायक स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं देता है उसे केवलज्ञानरूप लक्ष्मी प्राप्त नही होती । इस प्रकार समादृत विरतारको प्राप्त हुए आपके मत में क्या नहीं माना गया है?।।६७।।

मोहतमः समुदायवृतमानस ! के कुरू वास मुदायः ।
यदिति भवेत् स मुदा यः प्राह परो यतिसमुदायः ।।

मोहतमः--समुदायवृतमानस ! के वासं कुरू। यत् उदायः भवेत्
इतिःयः परः च सः यतिसमुदायः मुदा प्राह ।

अत्यन्त मोह-तम में कुछ ना दिखेगा,
तू आत्म में रह, प्रकाश वहां मिलेगा।
स्वादिष्ट मोक्ष-फल वो फलतः फलेगा,
उद्दीप्त दीपक सदैव अहो! जलेगा।।६८।।

अर्थ– मोहरूपी अन्धकार के समूह से जिसका मन घिरा है, ऐसे हे श्रमण ! 'तू आत्मारूपी प्रकाश में निवास कर जिससे तेरा ऊर्ध्वगमन--मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्न हो सके' ऐसा जो श्रेष्ठ मुनिसमूह है, उसने हर्ष से कहा है।।६८।।

न मनोऽन्यत् सदा नय दृशा सह तत्वसप्तकं सदानय ।
यदि न त्रासदाऽनयः पन्थास्ते स्वरसदा न यः।।

मनः सदा अन्यत् न नय । सत् तत्वसप्तकं दृशा सह आनय ।
यदि (एवं) न, (तर्हि) ते यः पन्थाः (सः) त्रासदा, अनयः स्वरसदा (अपि) न ।

तू चाहता विषय में मन ना भुलाना,
तो सात तत्व-अनुचिन्तन में लगा ना !
ऐसा न हो, कुपथ से सुख क्यों मिलेगा ?
आत्मानुभूति झरना फिर क्यों झरेगा ? ।।६६।।

अर्थ– हे श्रमण ! मन सदा अन्यत्र न ले जा, सम्यग्दर्शन के साथ श्रेष्ठ सातत्त्वों में ला । यदि ऐसा नहीं करता है तो मेरा मार्ग दुःखदायक तथा कल्याणकारक विधि से रहित होगा एवं आत्मानुभव को देने वाला नहीं होगा ।।६६।।

अतिलघौ लघुधिये मयि त्यक्तकरणविषयेऽये समतामयि !
कुरु कृपां करूणामयि! विशुद्धचेतने ! सुधामयि ! ।।

अये ! सुधामयि ! करूणामयि ! समतामयि ! विशुद्धचेतने !
लघुधिये त्यक्तकरणविषये अतिलघौमयि कृपां कुरु।

हूँ बाल, मन्द-मति हूँ, लघु हूँ, यमी हूँ,
मैं राग की कर रहा क्रम से कमी हूँ।
हे चेतने ! सुखद-शान्ति-सुधा पिला दे,
माता ! मुझे कर कृपा मुझमें मिला दे।।१००।।

अर्थ– हे समतामयी ! हे करूणामयि ! हे सुधामयि ! हे विशुद्धचेतने ! मुझ अल्पबुद्धि संयमी पर दया करो । मुझे विशुद्ध चेतनामय बनाओ ।।१००।।

वै विषमयीमविद्यां विहाय 'ज्ञानसागरजां' विद्याम् ।
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ।

आत्मवित् (अहम्) वै विषमयीम् अविद्यां विहास ज्ञानसागरजां सुधां विद्याम् एमि।
सुकृतजां यां कृतजां यां द्यां भुवि न इच्छामि ।

चाहूं कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी !
पीउँ सुधा रस निजीय, बनूँ न कामी।
पा 'ज्ञानसागर' सुमन्थन से सुविद्या,
'विद्यादिसागर' बनूँ, तज दूँ अविद्या।।१०१।।

अर्थ– मै आत्मज्ञ, निश्चय से विषमयी अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर में उत्पन्न गुरू ज्ञानसागर जी से प्राप्त आत्मविद्या को प्राप्त होता हूँ। पुण्य से प्राप्त होने वाला जो द्यौ – स्वर्ग है, उसे नहीं चाहता हूं।।१०१।।